कांट के दर्शन की कुछ समस्याएँ

कांट का दार्शनिक चिन्तन सर्वविदित है और बहुत से लोगों की राय में, वह दर्शन के प्रति उस मूलभूत दृष्टि को देता है जिसको आसानी से नकारा नहीं जा सकता। दर्शन, दार्शनिक चिन्तन प्रधानत: ज्ञानकेन्द्रित होता है, और कांट ने ज्ञान के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में जो बात कही है, वह इतनी मूलभूत है कि वह ज्ञान के प्रति समस्त दृष्टि को ही पूरी तरह बदल देती है।

कांट का कहना है कि बुद्धि किसी पारदर्शी शीशे की तरह नहीं है जिसमें ज्ञान का विषय प्रतिबिम्बित होता है, बल्कि इसके विपरीत वह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त अनेकानेक असम्बद्ध, बिखरे हुए, संवेद एक ऐसी समग्रता में संजोये जाते हैं जिसके आधार पर उन्हें ज्ञान के विषय के रूप में देखा जा सकता है और इस प्रक्रिया का अपना स्वरूप भी है और प्रयोजन भी। जब तक हम इन दोनों पक्षों को सही-सही नहीं समझेंगे हम ज्ञान को समझ ही नहीं सकते।

बात इससे भी कहीं गहरी है। कांट का संकेत वास्तव में काल और चेतना के सम्बन्ध से है। अगर चेतना काल से सम्बन्धित है और अगर काल क्षणिक है तो चेतना भी सहज रूप में क्षणिक होगी और अगर सब कुछ क्षणिक है तो उसका ज्ञान कैसे हो सकता है? वास्तव में तो बात सत् और काल के सम्बन्ध की है। जो सत् है, वह चाहे चित् हो या अचित्, वह क्षणिक ही हो सकता है और अगर वह क्षणिक है तो फिर उसका ज्ञान कैसे होगा? इसमें एक पूर्वमान्यता है, कि 'काल' अनिवार्य रूप से क्षणिक ही है, या क्षणों का अनन्त प्रवाह है। पर यह बात कैसे सिद्ध होती है कि जो है वह अनिवार्य रूप से क्षणिक ही होगा?

कांट ने इस बात को इस तरह से तो नहीं उठाया है, लेकिन उसने जो कहा है उसमें यह बात अन्तर्निहित है और उसने इस बात की अनिवार्यता को इस प्रकार से समझाने की कोशिश की है कि जो भी विभाज्य है उसकी 'विभाज्यता' में यह अनिवार्य रूप से अन्तर्निहित है कि वह अनन्त रूप में विभाजित हो, फिर चाहे वह देश हो या काल, दोनों को खण्डों में विभाजित किया जा सकता है और यह विभाजन की प्रक्रिया सिद्धान्तत: कभी भी समाप्त नहीं हो सकती। और अगर यह

सिद्धान्तत: समाप्त हो ही नहीं सकती तो फिर काल के सन्दर्भ में किसी ज्ञान की बात करना उतना ही निरर्थक है जितना 'देश' के सन्दर्भ में किसी चरम बिन्दु के ज्ञान की। किसी वास्तविक 'क्षण' की बात करना या किसी चरम बिन्दु की बात करना वास्तव में यह कहना है कि जो प्रक्रिया समाप्त ही नहीं हो सकती वह समाप्त हो गयी है। पर, अगर ऐसा मान लें तो फिर कुछ कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि 'कहने' के लिए किसी हद तक यह मानना ज़रूरी होगा कि इस अन्तहीन प्रक्रिया को हमने या तो नज़रअन्दाज़ कर दिया है या किसी प्रयोजनवश रोक दिया है। कुछ, कुछ ऐसी बात बौद्ध विज्ञानवादियों ने अपने 'विकल्प' के सिद्धान्त में प्रतिपादित करने की कोशिश की थी। परन्तु ऐसी बात करने के लिए दो बातों को मानना ज़रूरी होगा—एक यह कि प्रयोजन जैसी कोई चीज़ हो सकती है और दूसरी यह कि प्रक्रिया को नज़रअन्दाज़ या बन्द किया जा सकता है। ज्ञान के मूल में भी उसी 'स्वतन्त्रता' को मानना पड़ेगा जो कांट ने नैतिक कर्म के सन्दर्भ में मानी थी, या जो और अन्य लोग मानवीय कर्म के सन्दर्भ में स्वीकार करते हैं।

इस स्वतन्त्रता की बात कांट ने नहीं की है। उसने अपने विचार को इस सन्दर्भ में एक ऐसी दिशा दी है जिसको आसानी से समझना मुश्किल है, उसने कहा कि वास्तव में देश और काल कोई विषय-वस्तु नहीं हैं और इनकी अनन्त विभाज्यता कोई उस प्रकार की चीज़ नहीं है, जो इन्द्रियों से ग्राह्य वस्तुओं के सन्दर्भ में होती है। ये तो वास्तव में प्रत्यक्ष के ज्ञान होने की पूर्वाग्रह हैं, क्योंकि इनके बगैर उस प्रकार का ज्ञान हो ही नहीं सकता। किसी भी वस्तु का इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान होने का अर्थ ही यह होता है वह 'यहाँ' है और 'अब' है और इस 'यहाँ' और 'अब' में देश और काल के प्रत्यय समाहित हैं। जो यहाँ है और अब है वह उस अनन्त से अनिवार्य रूप में बँधा है जो इनके द्वारा इंगित होते हैं। यहाँ होने का अर्थ ही यह है कि किसी अनन्त देश में वह स्थित है जिससे उसे विलग नहीं किया जा सकता। यही बात अब के साथ भी है, वह उसको उस अनन्त काल में स्थित करती है जिसकी अनन्तता सोचते ही मनुष्य विस्मय से भर जाता है।

देश और काल के सन्दर्भ में कांट की यह दृष्टि इतनी नयी थी कि एक प्रकार से इसको दार्शनिक चिन्तन अभी भी आत्मसात नहीं कर पाया है। देखने में 'देश' सब जगह दिखाई देता है और इसी प्रकार काल का आभास भी हमें हर क्षण होता रहता है। पर, कांट के अनुसार इससे बड़ा कोई और भ्रम नहीं हो सकता। दिखता है पर 'है' नहीं, महसूस होता है, अनुभव होता है, पर है नहीं।

इन्द्रियानुभूत जगत् का आधार कांट के अनुसार यही भ्रम है जिसकी भ्रमात्मकता एक ही तरह से जानी जा सकती है, और उसका तरीका यह है कि आप अपने से पूछें कि अगर ये वास्तव में उतने ही 'वास्तविक' हैं जैसा आप मानते हैं, तो क्या इनके बारे में कभी भी यह फैसला हो सकता है कि इनका

'आदि' और 'अन्त' है या नहीं? कांट ने इस बात को इस प्रकार सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि ऐसा मानने पर देश और काल की सत्ता विषय के रूप में चेतना से स्वतन्त्र मानने पर दोनों विपरीत मान्यताएँ एक सी ही तर्क-सिद्ध होती हैं, जबकि वे ऐसी नहीं होनी चाहिए थीं। इस तरह कांट ने यह जानने का एक मानदण्ड या निकष मनुष्य की बुद्धि को दिया था कि वह उसके द्वारा यह फैसला कर सके कि जो सामने स्पष्ट रूप में दिया हुआ महसूस होता है वह वास्तव में वैसा नहीं है।

यही बात, एक प्रकार से कार्य-कारण के बारे में भी सही दिखाई देती है। वस्तु-जगत् को समझने के लिए हम उसको कारण-कार्य की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। सोचने पर इस प्रक्रिया का भी कोई आदि अन्त दिखाई नहीं देता। जिस प्रकार देश और काल के सन्दर्भ में यह तय करना असम्भव है कि उनका कोई आदि या अन्त है उसी प्रकार कार्य-कारण की शृंखला के बारे में भी वैसा ही प्रतीत होता है। बौद्ध परम्परा में प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त प्रसिद्ध है और वह कार्य-कारण की प्रक्रिया को ही देखने का एक प्रकार है। परन्तु बौद्धों ने उसे जिस प्रकार देखा, कांट ने उसे उस प्रकार नहीं देखा। कांट के लिए तो इस प्रकार की सिद्धान्ततः अनिराकरणीय बात इस ओर इंगित करती है कि जिसे आप स्वतन्त्र वस्तु या विषय रूप में देखते हैं या समझते हैं वह वास्तव में ऐसी नहीं है, वह तो 'वह' है जो विषय-वस्तु पर 'ज्ञान-रूप' होने के कारण अध्यारोपित है। कांट का कहना है कि किसी भी चीज को ज्ञान के विषय के रूप में देखना ही इस प्रकार से किसी ज्ञान- रूप को उस पर अध्यारोपित करके देखना ही होता है। ज्ञान की प्रक्रिया का यही मूल 'अध्यास' है, जिसको समझे बगैर ज्ञान के सम्बन्ध में उत्पन्न दार्शनिक समस्याओं का समाधान असम्भव है।

पर, ज्ञान का स्वरूप, कांट के अनुसार, केवल कार्य-कारण सम्बन्ध तक ही सीमित नहीं है, वह तो उन अनेक सम्बन्धों में अभिव्यक्त होता है जो इन्द्रियों से प्राप्त संवेदनाओं को ज्ञान का रूप देते हैं। यह 'रूप' मनुष्य के स्तर पर भाषागत होता है और भाषा का स्वरूप वाक्य के स्वरूप पर निर्भर करता है। उसके अनुसार अगर हम वाक्य के मूल स्वरूप को समझ लें तो मानवीय ज्ञान के उस स्वरूप को सहज रूप में समझ पायेंगे जो हम इन्द्रियों से प्राप्त संवेदनाओं पर 'आरोपित' करते हैं और जिन्हें हम कभी भी इस प्रकार नहीं देखते कि वे आरोपित हैं। हम तो, जो इन्द्रियों से प्राप्त होता है उसको ही सहज-स्वरूप मान बैठते हैं और समझते हैं कि वास्तव में संसार या जगत् या सत् का स्वरूप ही ऐसा है। कांट का ये अध्यास-निरूपण शंकर के अध्यास-चिन्तन से बहुत कुछ अलग है, फिर भी इनमें कुछ साम्य है जिसकी ओर अभी तक कम ही ध्यान दिया गया है। कांट के लिए वाक्य का स्वरूप उन बारह कोटियों से निर्मित है जिसका विभाजन उसने मात्रा, गुण, सम्बन्ध और प्रकारता के अन्तर्गत किया है। गुण को

पहले लें, तो बात शायद ज्यादा साफ समझ में आयेगी। आखिर कोई वाक्य क्या कहता है? यही तो कहता है कि कोई वस्तुस्थिति 'है' या 'नहीं' है, यानि, आप यह कहते हैं कि कुछ है या कुछ नहीं। इसी को कांट ने अफर्मेशन और निषेध का नाम दिया है। अब अगर आप यह कहते हैं कि कुछ है या कुछ नहीं है, तो आप यह सब वस्तु के सम्बन्ध में कह रहे हैं, या कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में या केवल किसी विशिष्ट वस्तु के सन्दर्भ में—यानि, 'सबके' बारे में है या कुछ के बारे में है, या किसी व्यक्ति विशेष के बारे में। इसी को कांट ने सामान्य, विशेष और एक मात्रा के नाम से मात्रा की कोटि के अन्तर्गत रखा है।

वाक्यों में ये भेद अरस्तू ने अपने तर्कशास्त्र में प्रतिपादित किये थे; उसके अनुसार, जब भी हम किसी वस्तुस्थिति को समझते हैं तो इसी प्रकार से समझते हैं, कि जो 'है' वह सब के बारे में है या कुछ के बारे में है या किसी वस्तु विशेष के बारे में है। इसी प्रकार अगर हम किसी गुण का, या बौद्धों की भाषा में कहें तो 'धर्म' का, निषेध करते हैं तो वह निषेध सबके बारे में है या कुछ के बारे में है या केवल किसी व्यक्ति विशेष के बारे में है। इन्हीं को अंग्रेज़ी में यूनिवर्सल अफर्मेटिव, यूनिवर्सल नेगेटिव, पर्टीक्युलर अफर्मेटिव, पर्टीक्युलर नेगेटिव की संज्ञा दी गयी थी, जिनके लिए पारम्परिक पश्चिमी तर्क शास्त्र में A, E, I, O संकेत-चिह्न दिये गये थे। यह स्पष्ट नहीं है कि अरस्तु ने वाक्य में एक तीसरे भेद को भी स्वीकार किया था, जिसे सिंगुलर अफर्मेटिव और सिंगुलर निगेटिव का नाम दिया जा सकता है। कांट ने अपनी वाक्य-व्यवस्था में इस तीसरी कोटि को भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है, क्योंकि असली ज्ञान तो 'विशिष्ट' का ही होता है, हालांकि हम 'सामान्य' ज्ञान को ही ज्ञान मानते हैं। वैशेषिक चिन्तकों ने सामान्य और विशेष की कोटियाँ पदार्थ रूप में स्वीकार की थीं और इस सन्दर्भ में उन्होंने अन्त्य विशेष की चर्चा भी की थी। लेकिन चरम सामान्य, जिसे शायद उन्होंने सत्ता का नाम दिया है, और अन्त्य विशेष के बीच स्थित पदार्थों के लिए उन्होंने कोई विशेष नाम दिया हो ऐसा प्रतीत नहीं होता।

कांट ने जिस प्रकार मात्रा के सन्दर्भ में एक तीसरी कोटि को स्वीकार किया था उसी प्रकार उसने गुण के सन्दर्भ में भी एक तीसरी कोटि को स्वीकार किया जिसको उसने परिसीमन या 'लिमिटेशन' का नाम दिया। यह कोटि एक प्रकार से बिल्कुल अजीब सी है और ये समझना मुश्किल है कि इसको कांट ने स्वतन्त्र रूप में क्यों स्वीकार किया। इस कोटि को कांट इस प्रकार समझाता है कि अगर हम किसी निषेधात्मक वाक्य को लें जो किसी गुण या धर्म का निषेध करता है, तो उस 'निषेध' को इस प्रकार भी देखा जा सकता है कि वह उस गुण या धर्म के विरोधी गुण या धर्म को उस द्रव्य या वस्तु में स्थित मानता है और इस प्रकार वही बात जो निषेधात्मक वाक्य में कही गयी थी अब उसके विपरीत 'स्वीकारात्मक' या 'विध्यात्मक वाक्य' में कही गयी है। कांट इसका उदाहरण यह देता है कि यह

निषेधात्मक वाक्य कि आत्मा मरणशील नहीं है, इस वाक्य के समानार्थक है कि 'आत्मा अमर (अ-मरणशील) है।' उसके अनुसार जबकि पहला वाक्य 'आत्मा' में मरणशीलता का निषेध करता है, दूसरा वाक्य आत्मा को उस वर्ग के सदस्य के रूप में देखता है जो मरणशील नहीं है और चूंकि इस वर्ग की सीमा केवल मरणशील प्राणियों को छोड़कर 'सभी को' अपने में समाहित करती है इसलिए यह एक प्रकार से असीमित है और कांट इसी को असीमित कहता है। अमरता के संदर्भ में यह बात शायद स्पष्ट न हो लेकिन अगर हम यही बात किसी ऐसे धर्म या गुण के बारे में कहें जो साधारणत: अनुभूत होता है, जैसे उदाहरण के लिए लाल, पीला आदि। तब यही बात इस ही प्रकार कही जायेगी।

कांट की कोटियों में यह अजीब कोटि है, लेकिन अगर उसकी अन्य कोटियों पर ध्यान दें तो उनमें जहाँ कहीं भी तीसरी कोटि है, उसका स्वरूप कुछ अजीब सा ही लगेगा। सम्बन्ध के अन्तर्गत जो तीन कोटियाँ हैं वे भी अपने आप में कुछ कम अजीब नहीं हैं। इसके अन्तर्गत दूसरी कोटि का नाम कार्य-कारण सम्बन्ध है—तीसरी का नाम पारस्परिकता है। इसी के अन्तर्गत पहली कोटि का नाम द्रव्य-गुण सम्बन्ध है।

कार्य-कारण सम्बन्ध की चर्चा कांट के सन्दर्भ में विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि ह्यूम के इस सम्बन्ध के बारे में मूलभूत शंका उठाने के बाद सारे वैज्ञानिक ज्ञान का आधार ही सन्देहास्पद हो गया था। अगर कार्य-कारण सम्बन्ध के बारे में ही कोई निश्चितता नहीं हो सकती तो फिर जो भी ज्ञान है और जिसका सहज स्वरूप ही यही है कि ''यदि ऐसा है तो ऐसा होगा'', या ''यदि ऐसा है तो इसके पहले ऐसा हुआ होगा'' कभी नि:सन्देह रूप में स्थापित किया ही नहीं जा सकता। ह्यूम की शंका का आधार यह था कि हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि अब तक हमारे अनुभव में ''ऐसा होने पर ऐसा हुआ है'', लेकिन भविष्य में भी ऐसा ही होगा, यह मानने का हमारे पास वास्तव में कोई आधार नहीं है। घटनाओं या वस्तुस्थितियों के बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध है, यह केवल एक अन्धविश्वास या पूर्वमान्यता है जिसका कोई आधार न तर्क में है, न अनुभव में।

कार्य-कारण सम्बन्ध में एक और भी बात है जिसकी ओर साधारणत: ध्यान नहीं दिया गया और वह उसकी उस अनादि और अनन्त श्रृंखला से सम्बन्धित है जो उसके साथ उसी तरह सहज रूप में जुड़ी है जो 'काल' के सम्बन्ध में है। कार्य-कारण के सम्बन्ध का यह पक्ष उस समय स्पष्ट रूप में उदय होता है जब जगत् के मूल कारण की चर्चा की जाती है ईश्वर की बात साधारणत: इस सन्दर्भ में की जाती है कि वह जो कुछ भी है उसका स्रष्टा है, उसका आदि कारण है। पर उसके बारे में भी सवाल उसी तरह उठता है कि आखिर उसका कारण क्या था? इस कठिनाई से बचने के लिए आमतौर पर यह कहा जाता है कि वह अपना

कारण स्वयं था। दूसरी ओर अगर सृष्टि को कार्य-कारण के रूप में देखा जाये तो जिस प्रकार यह अनादि प्रतीत होती है उसी प्रकार अनन्त भी और अनन्त मानने पर ईश्वर के लिए यह समस्या उत्पन्न होगी कि वह सृष्टि का कर्त्ता होने पर भी उसकी सहज अनन्तता में कोई बाधा नहीं ड़ाल सकता।

कांट ने कार्य-कारण सम्बन्ध के बारे में भी एक प्रकार से यही बात कहने की कोशिश की जो उसने 'देश' और 'काल' के सन्दर्भ में कही थी। कार्य-कारण की अनन्तता वास्तव में किसी विशिष्ट अनुभव पर आश्रित नहीं है बल्कि वह ज्ञान का ही एक अंग है। किसी बात के होने में ही यह निहित है कि वह पहले नहीं थी और तब जो 'था' उससे वह इस प्रकार सम्बन्धित है कि उसको उसका 'जन्मदाता' माना जा सकता है और यही बात उस पहली बात के बारे में भी लागू होगी और इस प्रकार एक ऐसी अनन्त श्रृंखला बनती है जिसका न कभी आदि हो सकता है और न अन्त।

कार्य-कारण सम्बन्ध को इस प्रकार से देखने पर यह प्रश्न सहज उठता है कि आखिर इस सम्बन्ध का कालिक सम्बन्ध से क्या भेद है? काल में भी तो यही होता है जो 'अब' है उससे पहले कुछ था और उसके बाद भी कुछ होगा और जो 'पहले' था उसके पहले भी कुछ था और इस तरह की बात तो कभी भी समाप्त नहीं हो सकती, न पीछे न आगे।

कांट ने इस सवाल को इस प्रकार नहीं उठाया प्रतीत होता है, लेकिन हम सोच सकते हैं कि अगर वह यह प्रश्न उठाता तो क्या उत्तर देता। शायद उसका उत्तर यह होता कि इसमें एक ऐसी विशिष्ट अनिवार्यता है जो कालिक सम्बन्ध में नहीं होती। काल के सम्बन्ध में 'पहले' और 'बाद' के होने की बात होती है, परन्तु जो घटनाएँ या वस्तुस्थितियाँ इस प्रकार घटित होती हैं उनके बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध की बात नहीं की जाती। पर, यदि अनिवार्य सम्बन्ध की बात की जाये तो फिर कांट ने प्रकारता के अन्तर्गत अनिवार्यता की बात की है, जिसे कारणता में अन्तर्भूत करना पड़ेगा और इस प्रकार कार्य-कारण सम्बन्ध की कोटि कोई स्वतन्त्र कोटि न होकर कालिकता और अनिवार्यता के मिश्रण के रूप में उपस्थित होगी।

इस प्रकार देखने पर कारणता की कोटि एक स्वतंत्र कोटि नहीं बनेगी बल्कि वह काल और अनिवार्यता का संयोग या मिश्र रूप होगी। अब, इनमें से प्रथम :काल: जबकि संवेदन का एक प्रागनुभविक आकार है दूसरा :अनिवार्यता: प्रकारता के अन्तर्गत एक कोटि है।

अनिवार्यता की बात कांट के दर्शन में कहाँ से उदय होती है इसकी चर्चा विद्वानों ने कम ही की है, न ही उन्होंने कार्य-कारण के सन्दर्भ में काल और अनिवार्यता के सम्बन्धों पर ध्यान दिया है। इससे भी ज्यादा आश्चर्य की बात तो

यह है कि कांट ने सम्बन्ध के अन्तर्गत जिन कोटियों की चर्चा की है उनमें कार्य-कारण की कोटि को छोड़कर दूसरी अन्य कोटियों पर भी कम ध्यान दिया गया है। पारस्परिकता की बात थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दें तो इससे ज्यादा आश्चर्य की बात क्या हो सकती है कि कांट द्रव्य और गुण में 'सम्बन्ध' की बात करता है। लेकिन अगर यह सम्बन्ध है तो कैसा सम्बन्ध है? यह भी क्या अनिवार्य सम्बन्ध है और अगर अनिवार्य है तो इसकी अनिवार्यता किस प्रकार की अनिवार्यता है?

भारतीय चिन्तन में वैशेषिक दर्शन में इस सम्बन्ध की विशद चर्चा है और उन्होंने इसको एक विशिष्ट नाम भी दिया था जो 'समवाय' के नाम से जाना जाता है। समवाय को लेकर बहुत कुछ चर्चा हुई है, परन्तु कांट के द्रव्य-गुण सम्बन्ध को लेकर शायद ही किसी ने कभी कुछ सोचा या कहा हो। वैशेषिक दर्शन में समवाय सम्बन्ध केवल द्रव्य और गुण में ही नहीं होता बल्कि द्रव्य और 'कर्म' में भी होता है। 'कर्म' का अर्थ, जैसा सबको विदित है, यहाँ कर्म से न होकर उन सब क्रियाओं से है जो किसी वस्तु में हो सकती हैं। गुण और क्रिया दोनों को किसी आश्रय की जरूरत है और उस आश्रय का नाम द्रव्य है। कांट की कोटियों में द्रव्य-गुण के सम्बन्ध की बात तो है परन्तु द्रव्य-क्रिया के सम्बन्ध की बात नहीं है। एक तरह से देखें तो क्रिया की बात कहीं भी स्वतन्त्र रूप में नहीं दिखाई देती, हाँ, कार्य-कारण के सन्दर्भ में शायद उसको छिपे रूप में स्वीकार किया गया माना जा सकता है; पर जैसा कि कणाद के दर्शन में स्पष्ट है, क्रिया एक प्रकार की ही नहीं होती है और क्रिया का द्रव्य से सम्बन्ध उसी प्रकार होता का है जिस प्रकार का गुण का।

पर गुण का द्रव्य से क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न की ओर कांट का ध्यान भी नहीं गया यह आश्चर्य की बात है, जबकि उसके पहले लॉक यह सवाल स्पष्ट रूप में उठा चुका था। लॉक के लिए यह समस्या थी कि जो कुछ भी हम जानते हैं वह केवल 'गुण' मात्र है। द्रव्य तो केवल उसके आधार रूप में ही स्वीकार किया जाता है, उसका अपने आप में ज्ञान असम्भव है। इसी बात को उसने इस प्रकार कहा कि जिसे हम द्रव्य कहते हैं, वह तो केवल गुणों का आधार मात्र है, एक ऐसा अज्ञेय 'कुछ' जिसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कांट की 'स्वलक्षण वस्तु' या वस्तु स्वयं में भी कुछ-कुछ उसी प्रकार की है, लेकिन लॉक के द्रव्य में और कांट की स्वलक्षण वस्तु में क्या भेद है, इसकी ओर जहाँ तक मैं जानता हूँ, अधिक ध्यान नहीं दिया गया, लेकिन जिस बात की ओर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया है वह द्रव्य और गुणों के बीच वह सम्बन्ध है जिसकी चर्चा अद्वैत चिन्तन में 'उपाधि' के नाम से की गयी है। अगर कोई भी गुण या गुणों का समूह, द्रव्य को द्रव्यरूप में न परिभाषित कर सकता है, न बता सकता है, न पकड़ सकता है, तो फिर जो द्रव्य है उसका कभी भी ज्ञान हो ही नहीं सकता। अद्वैत

चिन्तन में ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है और यह समस्या एक अन्य प्रकार से स्पिनोज़ा के द्रव्य के बारे में भी उठती है। स्पिनोज़ा जिसे चरम सत् कहता है और जिसको उसने द्रव्य की संज्ञा दी है उसका लक्षण उसने यह बताया है कि वह अपने द्वारा ही समझा जा सकता है, यानी उसको समझने के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है। यही बात एक अन्य प्रकार से भी कही जाती है और वह यह है कि उसका आधार स्वयं उसके अपने में ही है। गुणों की चर्चा के सन्दर्भ में उसने दो ही विकल्प माने हैं—एक यह कि उसके अनन्त गुण हैं, जिनमें से हम केवल दो ही गुण जानते हैं जिन्हें चित् और देश का नाम दिया जा सकता है। दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि शायद उसका अपना कोई गुण है ही नहीं और हम उसके सन्दर्भ में जिस किसी भी गुण की बात करते हैं वह एक प्रकार से उस पर हमारे द्वारा आरोपित गुण ही हो सकता है, क्योंकि उसके अपने स्वरूप का तो हमें कभी भी आभास नहीं हो सकता, या कम से कम यह निश्चय नहीं हो सकता कि यह वास्तव में उसका गुण है। स्पिनोजा के बारे में निश्चित रूप में यह कहना कि यह मत उसके विचार में निहित है, कठिन है, लेकिन अद्वैत चिन्तन की परम्परा में यह दूसरा विकल्प सहज रूप में स्वीकार्य प्रतीत होता है और ऐसा स्पष्ट रूप में लगता है कि उसके लिए गुण मात्र केवल उपाधि ही है और इसलिए जो सत् है उसके सन्दर्भ में किसी भी सम्बन्ध की बात करना गलत है।

दूसरी ओर बौद्धों ने द्रव्य के विचार को ही एक प्रकार से अध्यास या आरोपित विचार की संज्ञा दी है। आखिर जानते तो हम गुण ही हैं, तो फिर द्रव्य को मानने की आवश्यकता ही क्या है। लॉक हो या कांट, अद्वैत वेदान्ती हो या गैर-अद्वैती वेदान्ती, या फिर अन्य कोई दार्शनिक हो, सब को यह मानने की जरूरत महसूस होती है कि कोई आधार तो होना ही चाहिए। पर क्या गुण स्वयं किसी का आधार नहीं हो सकते? और अगर ऐसा हो सकता है तो फिर गुण और द्रव्य में भेद किस प्रकार किया जा सकेगा? कहने का अर्थ यह है कि इस प्रकार देखने पर द्रव्य और गुण का भेद सापेक्ष होगा, वैसा नहीं जैसा कि अधिकतर दार्शनिक लोग अब तक मान कर चलते हैं। बौद्ध दार्शनिक भी क्या इसी प्रकार की गलती नहीं करते? वे किस आधार पर यह मान बैठे हैं कि गुण स्वयं किसी अन्य गुण का आधार नहीं हो सकता? ज्ञात और अज्ञात का भेद, अननुभूत और अनुभूत का भेद अलग है, क्योंकि जो अज्ञात है वह ज्ञात हो सकता है और जो अभी तक अनुभव में नहीं आया है वह अनुभूत हो सकता है। इसलिए सत् को द्रव्य-गुण की कोटियों में समझने की चेष्टा और उन दोनों को निरपेक्षरूप में देखने या समझने की कोशिश ही उन सारी समस्याओं को जन्म देती है जिनसे दर्शन का इतिहस अभी तक ग्रसित रहा है।

जैन दार्शनिकों ने इसी समस्या को द्रव्य और पर्याय के समबन्ध के रूप में देखने की कोशिश की है। पर्याय शब्द गुण के उस पक्ष की ओर ध्यान दिलाता है

जिसमें चिरन्तन परिवर्तनशीलता छिपी है और जिनको सांख्य दर्शन में नित्य परिणामी कह कर बताने की कोशिश की गयी है। सांख्य ने गुणों में सात्त्विक, राजसिक, तामसिक का भेद भी किया है, जिसकी ओर अन्य दार्शनिक परम्पराओं ने कम ही ध्यान दिया है। हाँ, पश्चिमी परम्परा में गुणों में स्तर-भेद किया गया है और जिसको मूल, द्वितीय स्तरीय, तृतीय स्तरीय (प्राइमरी, सैकण्डरी, टर्शियरी क्वालिटीज) कह कर बताने की चेष्टा की गयी है। गुणों के इस भेद का आधार चेतना से उनकी स्वतंत्रता की मात्रा है। इस बात को शायद अधिक ठीक तरह से इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुणों में यह भेद इस आधार पर किया गया है कि उनके स्वरूप को समझने में 'चेतना' या 'चित्त' कहाँ तक आवश्यक प्रतीत होता है। अच्छे-बुरे की बात, सुन्दर-असुन्दर की बात, सत्य-असत्य की बात शायद चेतना को माने बगैर नहीं की जा सकती। यही बात सुख-दुःख के बारे में भी लागू होती है। लेकिन जब रूप, रंग, गंध, स्पर्श आदि की बात करते हैं तो वहाँ इन्द्रियों की बात ज्यादा नजर आती है, चेतना की कुछ कम, हालांकि चेतना को माने बगैर इनकी बात करना मुश्किल है। लॉक ने यही कहने की कोशिश की थी और यह कहा था कि जब हम संख्या, परिमाण, विस्तार, गुरुत्व आदि की बात करते हैं तो वहाँ चेतना की बात करना सार्थक नहीं लगता। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक का भेद भी चेतना से सहज सम्बन्धित दिखाई देता है, पर वह चेतना के उस आयाम की ओर इंगित करता मालूम पड़ता है जिसकी ओर पश्चिमी दार्शनिकों ने कम ही ध्यान दिया है। यह दूसरी बात है कि सांख्य दर्शन में ये गुण जड़ प्रकृति के माने गये हैं न कि चित्त-स्वरूप, चिन्मात्र-शुद्ध चैतन्य के, जिसका उस दर्शन में 'पुरुष' नाम दिया गया है।

इन परम्परागत कोटियों में हमें आज बँधे रहने की जरूरत नहीं है, न यह मानने की जरूरत है कि इस प्रकार का चिन्तन पश्चिमी परम्परा में हुआ है या भारतीय परम्परा में। चिन्तन कहीं भी हुआ हो और कैसा भी हो हम उसको सब जगह से अपना सकते हैं और उसको लेकर स्वतन्त्र रूप में नया चिन्तन कर सकते हैं।

कांट ने अपनी कोटियों में द्रव्य-गुण को जो मूलभूत स्थान दिया है, उस पर आज फिर स्वतन्त्र रूप में चिन्तन करने की आवश्यकता है। यही नहीं, कांट का चौथा विभाजन जो उसने जो है, जो हो सकता है, और जिसे अनिवार्य रूप से होना है, के अन्तर्गत किया है उस पर नये सिरे से ध्यान देने की आवश्यकता है। कांट ने इसके अन्तर्गत संभावनात्मकता, वास्तवता और अनिवार्यता की कोटियाँ रखी हैं। इनमें वास्तवता की कोटि तो आसानी से समझ में आती है, क्योंकि उसमें जो 'है' और 'नहीं है' दोनों सम्मिलित हैं और उस वस्तुस्थति को बताते हैं जो वास्तव में विद्यमान है। लेकिन जैसे ही हम संभावनात्मकता या अनिवार्यता की बात करते

हैं तो अनेक समस्याएँ उठती हैं, क्योंकि संभावनात्मकता का मतलब उससे है जो हो सकता है, और अनिवार्यता का उससे जो हुए बगैर नहीं रह सकता। दोनों के बारे में बहुत सी ऐसी समस्याएँ हैं जिनका निराकरण मुश्किल है एक तरह से जो 'है', उसकी 'होने' से पहले 'सम्भावना' तो माननी ही पड़ेगी, क्योंकि अगर वह सम्भव ही नहीं था तो फिर हो कैसे सकता था? दूसरी ओर अगर जो 'है' उसे 'अनिवार्य' माना जाये तो फिर उसके सम्बन्ध में यह माना ही नहीं जा सकता कि वह नहीं भी हो सकता था।

एक तरह से देखें तो सम्भावना की कोटि कर्म से जुड़ी है और अनिवार्यता की कोटि ज्ञान से। कर्म करने का मतलब ही यह है कि हम जो 'नहीं है' उसको वास्तविकता का रूप देना चाहते हैं, दूसरी ओर ज्ञान का मतलब ही यह है कि जो है, उसको इस रूप में देखना कि उसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता था। कर्म भविष्योन्मुख होता है, आगे की तरफ देखता है, जो नहीं है, उसको चरितार्थ करने की चेष्टा करता है। दूसरी ओर ज्ञान पीछे की ओर देखता है और जो है उसको उस सब से सम्बन्धित करके देखता है जो उसके पहले हुआ है और इस तरह उसको उस सब की परिणति के रूप में समझने की कोशिश करता है जिससे विलग करके ही उसको इस रूप में देखा जा सकता है कि वह कुछ अन्य भी हो सकता था।

ज्ञान और कर्म की ये विपरीत दिशाएँ कांट के दर्शन में शुद्ध और कर्ममूलक तर्क का रूप लेती हैं। कर्म की पूर्वमान्यता स्वातन्त्र्य है जबकि 'ज्ञान' यह माने बगैर हो ही नहीं सकता कि जो कुछ है उसके अलावा कुछ हो ही नहीं सकता था। ज्ञान और कर्म में यह अन्तर्विरोध मानवीय चेतना के मूल में स्थित है और भारतीय परम्परा में इसका प्रारम्भ भाषा को दो परस्पर विरोधी रूप में देखने में प्रकट हुआ था। वैदिक वाङ्मय को समझने के सन्दर्भ में यह समस्या उठी थी कि भाषा संज्ञा-प्रधान है या क्रिया-प्रधान। मीमांसा ने उसको क्रिया-प्रधान माना और इसलिए सारे वर्णनात्मक वाक्यों को या तो क्रिया का अनुषंगी बताया या 'अर्थवाद' कहा। दूसरी ओर श्रुति की ब्रह्मपरक व्याख्या करने वालों ने भाषा को संज्ञा-प्रधान माना और क्रियापरक वाक्यों को अनुषंगी बताया या अर्थवाद का नाम दिया।

परन्तु दोनों परम्पराओं में, अनिवार्यता जैसा विचार परिलक्षित नहीं होता। ऐसा नहीं है कि उस तरह का विचार भारतीय परम्परा में मिलता ही नहीं लेकिन वह नियति और पुरुषार्थ या पुरस्कार के सन्दर्भ में मिलता है। पश्चिमी परम्परा में जिस अनिवार्यता की बात की गयी है वह भारतीय चिन्तन में मुश्किल से ही मिलती है, क्योंकि उसका मूल उन गणितीय सम्बन्धों से बँधा है जो संख्याओं के आपसी सम्बन्ध में मिलते हैं। ''दो और दो चार होते हैं'' इसकी अनिवार्यता उस अनिवार्यता से भिन्न है जो 'धूम' और 'अग्नि' में पायी जाती है और जिसे भारतीय

दार्शनिक चिन्तन में 'व्याप्ति' की संज्ञा दी गयी है। पश्चिम के दार्शनिक चिन्तन के मूल में प्रारम्भ से ही यह दृष्टिभेद मिलता है, क्योंकि, किन्हीं विशेष कारणवश, वहाँ गणितीय ज्ञान को ही ज्ञान के प्रधान रूप में देखा गया और उसी को ज्ञान का मानदण्ड़ माना गया। ज्ञान के होने का ही अर्थ यह समझा गया कि उसका रूप वह हो जो गणित या विशेषकर ज्यामिति या रेखा-गणित में मिलता है। अरस्तू ने तो ज्ञान के क्षेत्रों में मूलभूल भेद इसी आधार पर अपने चिन्तन में किया था।

कांट में प्रकारता के अन्तर्गत जो कोटियाँ हैं उनको जब तक हम पश्चिम की इस व्यापक परम्परा के सन्दर्भ में नहीं देखेंगे तब तक हम इस बात को कभी भी समझ नहीं पायेंगे कि उसने इनको ज्ञान की कोटियों के अन्तर्गत क्यों रखा। आखिर संभावना और अनिवार्यता की कोटियाँ तो साधारणत: वाक्यों के अपने सहज रूप में प्रकट होती ही नहीं हैं। साधारणत: तो यही कहा जाता है कि ''ऐसा है या ऐसा नहीं है''—यह कौन कहता है कि ऐसा अनिवार्य रूप में है या ऐसा अवश्य होगा?

एक प्रकार से अनिवार्यता की बात कांट पहले ही देश और काल के सन्दर्भ में कर चुका था। देश का सम्बन्ध उस ज्ञान से है जो रेखाशास्त्र या ज्यामिति में पाया जाता है और काल का सम्बन्ध उस ज्ञान से समझा जाता है जो अंकगणित में मिलता है। अंकगणित और रेखागणित में जो अनिवार्यता मिलती है वह उन सब इन्द्रियानुभूत वस्तुओं या विषयों में भी प्राप्त होती है जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय हैं। आखिर दो और दो ही चार नहीं होते, बल्कि कोई भी दो वस्तुएँ और दो अन्य वस्तुएँ मिलकर चार वस्तुएँ ही होती हैं। यही बात दूरी या फासलों को नापने के सम्बन्ध में भी सच दिखाई देती है और अगर किसी क्षेत्र का क्षेत्रफल निकालना हो तो उसके लिए रेखागणित के सिद्धान्त उतने ही सहायक होते हैं जितने कि वे अपने शुद्ध रूप में उस विद्या में मिलते हैं। यह अपने आप में एक आश्चर्य की बात है, क्योंकि अंकगणित और रेखागणित का ज्ञान शुद्ध बुद्धि के आधार पर होता है, उसका इन्द्रियजनित अनुभव से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं दिखाई देता और न ही वह ज्ञान उस अनुभव पर आश्रित है। कोई भी यह जानने के लिए कि दो और दो चार होते हैं या नहीं, चीज़ों को गिनकर या जोड़कर नहीं देखता और न ही यह मानता है कि शायद कभी भविष्य में ऐसा न हो। यही बात त्रिभुज, चतुर्भुज आदि के बारे में भी सत्य है। फिर भी इन संख्याओं और क्षेत्रों का ज्ञान वस्तुओं पर और जिस देश में हम रहते हैं इस पर लागू होता है। कांट ने इस बात को इस तरह समझाने की कोशिश की कि इस अनिवार्यता का आधार उस मूल में छिपा है जिसके अनुसार देश और काल प्रत्यक्षानुभव या इन्द्रियानुभव के विषय न होकर उसमें प्रागनुभविकतया अन्तर्हित रहते हैं चूँकि वे पूर्वगृहीत हैं, या दूसरी तरह से कहें तो वह अनुभव उनके बगैर हो ही नहीं सकता, इसलिए जो भी उनकी अपनी

'सच्चाई' है वह अनिवार्य रूप से उस सब के बारे में भी सच होगी जो प्रत्यक्ष के विषय के रूप में अनुभूत या उपस्थित होता है।

पर कांट के सामने समस्या यह थी कि काल के अन्तर्गत केवल अंकगणित की संख्याओं का आन्तरिक सम्बन्ध ही नहीं बल्कि वह सम्बन्ध भी है जो एक घटना को दूसरी घटना से सम्बन्धित करता है। ''दो और दो चार होते हैं'' इसमें 'गिनने' का वह क्रम अनिवार्य रूप से आबद्ध है जो कालक्रम में मिलता है, घटनाओं में जो 'पहले' और 'बाद' में 'होने' का सम्बन्ध है वह भी काल को पूर्वापेक्षित करता है, परन्तु उस प्रकार से नहीं जिस प्रकार से अंकगणित की संख्या उसे पूर्वापेक्षित करती है। इसलिए वह सम्बन्ध उनसे भिन्न है और उसे कार्य-कारण का सम्बन्ध कहा जाता है क्योंकि अगर हम ऐसा न मानें तो फिर उन घटनाओं के बीच वास्तव में कोई सम्बन्ध रहेगा ही नहीं। वे तो सम्बन्धहीन घटनाएँ होंगी। ये घटनाएं एक के बाद दूसरी तो होंगी किन्तु ये प्रथम और द्वितीय कोई भी हो सकेंगी, परस्पर संबद्ध नहीं।

कांट ने इसी सम्बन्ध को काल से सम्बन्धित करके उसमें भी उस अनिवार्यता को देखने की कोशिश की जो एक प्रकार से उसने गणितीय सम्बन्धों के सन्दर्भ में प्रत्यक्षानुभूत जगत् में देखी थी। कार्य-कारण के इसी सम्बन्ध पर अधिकतर लोगों ने कांट के दर्शन के सन्दर्भ में ध्यान दिया है और यह कहा है कि यही उसकी सबसे बड़ी देन है और इसी में उसका वह उत्तर छिपा है जो उसने ह्यूम के प्रश्न के बारे में दिया था।

ह्यूम के संदेह का उत्तर यही था कि कार्य-कारण का सम्बन्ध कोई घटनाओं के बीच का प्रदत्त सम्बन्ध नहीं है, बल्कि वह तो 'समझने' या 'जानने' के अन्तर्भूत वह कोटि है जिसके बगैर वह प्रकिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती। परन्तु ऐसा मानने पर भी एक सवाल जो बाकी रह जाता है और जिसकी ओर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया वह यह है कि कार्य-कारण का सम्बन्ध तो कांट की कोटियों में से केवल 'एक' ही है और जहाँ तक कोटियों का प्रश्न है उनका स्थान ज्ञान की प्रकिया में एक सा ही होना चाहिए-यह नहीं कि एक कोटि को तो प्रधानता दे दी जाये और बाकी सब को गौण माना जाये।

कांट के कोटि सम्बन्धी विचार के बारे में और भी समस्याएँ हैं, केवल एक यह ही नहीं कि उनमें प्रधान और गौण का भेद कोटियों की दृष्टि से किया ही नहीं जा सकता। अगर 'सम्बन्ध' के अन्तर्गत तीन कोटियाँ हैं तो वे तीन एक साथ ही लागू होनी चाहिएँ, क्योंकि कांट के अनुसार सारी कोटियाँ ज्ञान की प्रक्रिया के रूप को एक साथ व्यक्त करती हैं, या दूसरी तरह से कहें तो निर्मित करती हैं। इस तरह से देखने पर किसी भी ज्ञान की प्रक्रिया में केवल कार्य-कारण की कोटि ही प्रयुक्त नहीं होगी, बल्कि अन्य सब कोटियाँ भी मौजूद होनी चाहिएँ जिन्हें हमने हिन्दी में परस्पराश्रितता व द्रव्य-गुण का नाम दिया है।

यह बात अन्य कोटियों के बारे में भी है। कांट ने कोटियों का विभाजन चार भागों में किया है और प्रत्येक भाग में तीन-तीन कोटियाँ बतायी हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रत्येक भाग की सारी कोटियाँ ज्ञान की प्रत्येक क्रिया में पूर्णतः उपस्थित रहती हैं या प्रत्येक भाग में से केवल एक ही कोटि का होना जरूरी है। अगर हम पहले विकल्प को स्वीकार करें तो यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान की प्रत्येक क्रिया में बारह की बारह कोटियाँ समान रूप से विद्यमान रहती हैं,और उनमें न कोई प्रधान होती है, न कोई गौण। इस विकल्प को मानने पर कठिनाई स्पष्ट प्रतीत होती है। आखिर यह कैसे स्वीकार किया जाये कि प्रत्येक ज्ञान उसी रूप में और उसी अर्थ में यह कहता है कि 'यह है' और 'यह नहीं है', यानि यह कहता है कि ऐसा है भी, और ऐसा नहीं भी। और अगर हम तीसरी कोटि को भी ध्यान में लें तो हमारी परेशानी और भी बढ़ जायेगी, क्योंकि वह कोटि तो कुछ विशेष अवस्थाओं में ही लागू होती है। परिसीमा की कोटि तो तब लागू होगी जब निषेधात्मक वाक्य को उस रूप में न लेकर विध्यात्मक रूप में लिया जाये। लेकिन ऐसा करने की कोई विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और उसको उस तरह से समझने में एक ऐसी कृत्रिमता दिखाई पड़ती है जो केवल विचार के पूर्वाग्रह के कारण उत्पन्न हुई है।

यही बात अन्य कोटियों के बारे में भी लागू होती है। जैसे, क्या प्रत्येक ज्ञान एक साथ सामान्य, विशेष और किसी व्यक्ति विशेष के बारे में एक साथ होता है? इसी प्रकार, क्या वह एक साथ अनिवार्य भी होता है और सम्भाव्य भी और वास्तव भी?

इस तरह मानने पर, जो कुछ भी यथार्थ है वह अनिवार्य भी होगा और जो संभाव्य है वह अनिवार्य और यथार्थ भी होगा।

लेकिन यदि हम इस विकल्प को अस्वीकार कर दें और यह मानें कि कांट के अनुसार प्रत्येक भाग में से ज्ञान की प्रक्रिया में केवल एक ही कोटि का होना जरूरी है अन्य का नहीं, तब यह प्रश्न उपस्थित होगा कि इस कोटि का चयन किस आधार पर होता है और यह चयन कौन करता है? अगर ज्ञान की प्रक्रिया में बारह की बारह कोटियाँ एक साथ लागू नहीं हो सकतीं, तो फिर हमें ये मानना होगा कि जब एक कोटि लागू होती है तब उसी भाग की दूसरी कोटियाँ लागू नहीं हो सकती, और इस तरह प्रत्येक ज्ञान की प्रक्रिया में केवल चार ही कोटियाँ उपस्थित होती हैं, 'बारह' नहीं।

इस विकल्प को मानते ही कांट का सारा कोटियों का ढ़ाँचा चरमरा कर गिरने लगता है। न कोटियों में वह अनिवार्यता रहती है जो कांट बताने की कोशिश करता है, और न ही वह ज्ञान की प्रक्रिया के उस अनिवार्य सहज स्वरूप को व्यक्त करती हैं जिसके द्वारा कांट ज्ञान के स्वरूप को बताने की चेष्टा करता है। यही नहीं, कोटियों के प्रयोग के सम्बन्ध में एक नयी समस्या उठती है जो इस

बात से सम्बन्धित है कि किस प्रक्रिया में कौन-सी कोटि का प्रयोग करें। हम किस कोटि का प्रयोग करें और इसका आधार क्या हो, यह इन्द्रियप्रदत्त अनुभव में ही पाया जा सकता है, और अगर ऐसा है तो कोटि का चयन उस बाह्य इन्द्रियानुभव के स्वरूप से दिया हुआ मानना पड़ेगा, न कि पूर्ण रूप से अनिर्धारित और स्वतंत्र। कहने का अर्थ यह है कि कोटि का प्रयोग अनुभूत प्रदत्त से नियमित होगा न कि ज्ञान के स्वरूप की उस पूर्वमान्यता पर जो कांट के कोटि-संबंधी चिन्तन की मौलिक विशेषता के रूप में देखी जाती है।

कांट की कोटि सम्बन्धी इन कठिनाइयों का निवारण एक अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है जो कांट ने क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न में उन्होंने स्वयं अपने कोटि सम्बन्धी विचार में प्रस्तुत किया प्रतीत होता है लेकिन जिसकी ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया गया। वह कांट के इस कहने में परिलक्षित होता है कि प्रत्येक भाग में तीसरी कोटि प्रथम दो कोटियों का समन्वित रूप है और इसलिए वास्तव में तो 'असली' कोटि उसी को समझना चाहिए। कांट के अपने शब्दों में,

"It may be observed that the third category in each class always arises from the combination of the second category with the first.

Thus allness of totality is just plurality considered as unity, limitation is simply reality combined with negation, community is the causality of substances reciprocally determining one another : lastly necessity is just the existence which is given through possibility itself. It must not be supposed, however, that the third category is therefore merely a derivative and not a primary concept of the pure understanding for the combination of the first and second concepts, in order that the third may be produced, requires a special act of understanding, which is not identical with that which is exercised in the case of the first and the second."

लेकिन कांट की इस बात से तो और भी कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी जो कांट के सारे कोटि सम्बन्धी विचार में एक मूलभूत परिवर्तन ला देगी। कार्य-कारण की कोटि को ही लीजिए। कांट के इस विचार के सन्दर्भ में इसका वह स्वरूप रह ही नहीं सकता जो आज तक उसको दिया गया है। यही बात अन्य कोटियों के संदर्भ में भी सत्य होगी।

कुछ-कुछ इसी तरह की कठिनाई कांट के देश और काल संबंधी कोटियों के बारे में भी उठाई गई है, और यह कहा गया है कि कांट ने उस समय के गणितीय ज्ञान को ऐसे स्वीकार किया था जैसे उसका कोई विकल्प ही नहीं हो सकता था। यह बात उस समय ठीक भी थी। लेकिन आज तो यह सर्वमान्य है कि रेखागणित अनेक प्रकार का हो सकता है और इसी प्रकार अंकगणित भी अनेक रूप ले सकता है, जो सदैव हमारी मान्यताओं के आधार पर आश्रित है। हम जो भी चाहें मान सकते हैं- इस मानने में हमें पूर्ण स्वतंत्रता है। केवल यह बाध्यता

रहती है कि हमने कुछ 'माना' है तो हमें कुछ और भी मानना पड़ेगा। ''यदि यह है, तो यह भी है'' बस 'अनिवार्यता' इस सम्बन्ध की ही है।

जहाँ तक मान्यता का प्रश्न है, उसमें हम पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं–कम से कम गणित के संदर्भ में। कहने का आशय यह है कि गणित की दृष्टि से हम कुछ भी मान सकते हैं और इसी आधार पर अनेकानेक गणितीय सम्बन्धों की, या कहें तो गणितीय संरचनाओं के संसार की सृष्टि कर सकते हैं। उन संरचनाओं में से कौन सी संरचना आपको इन्द्रियानुभूत जगत् को समझने में सहायक होती है, इसका शुद्ध गणित से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह बात ठीक होते हुए भी, कांट ने जो कहने की चेष्टा की थी उस पर इसका कोई विशेष असर नहीं होता। कांट के चिन्तन में जो मूलभूत दृष्टि है उसको उस विशिष्टता से अलग करके देखना चाहिये जिसमें वह दृष्टि अभिव्यक्त हुई है। आखिर सम्बन्ध की वह अनिवार्यता क्या है जिससे न गणितीय ज्ञान अपना छुटकारा पा सकता है और न ही अन्य प्रकार का ज्ञान। यही बात अन्य कोटियों के सम्बन्ध में भी है। क्या कोटियों के बगैर ज्ञान की प्रक्रिया हो सकती है? इसका उत्तर तो नहीं में ही होगा–यह बात दूसरी है कि ये कोटियाँ क्या हैं। कांट की कोटियों के बारे में झगड़ा हो सकता है, बहस हो सकती है पर, इससे कौन इन्कार कर सकता है कि कुछ 'कहोगे', तो कोटियाँ होंगी ही। ये कोटियाँ कहने की हैं या सोचने की, यह बताना मुश्किल है।

दूसरे शब्दों में कोटियों की अनिवार्यता भाषा में अभिव्यक्त होने की अनिवार्यता है, या स्वयं विचार की। यह प्रश्न कांट ने नहीं उठाया था, लेकिन उठाया जा सकता है। क्या विचार में भी वह अभिव्यक्त होता है, मूर्त होता है, जो विचार से परे है? यह प्रश्न, एक प्रकार से भारतीय दार्शनिक चिन्तन में भर्तृहरि ने अपने **वाक्यपदीय** में उठाया था और भाषा के स्तरीय भेद किये थे। उसके अनुसार जो हम बोलते हैं और जो हम सोचते हैं, उसके परे एक और भी स्तर है जो अपने आपको विचार में प्रकट करता है और विचार की कोटियों में आबद्ध होता है। इस स्तर को उसने 'पश्यन्ती' का नाम दिया था। एक तरह से इसके मानने की जरूरत विचार की, या चिन्तन की उस 'एकवाक्यता' में है जिसको माने बगैर विचार का 'एक्य' समझ में ही नहीं आ सकता। उसने तो इससे परे भी एक अन्य स्तर मानने की जरूरत समझी जिसको उसने 'परा' का नाम दिया था। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी भाषा के ये चार स्तर भर्तृहरी ने बताये थे। कांट ने इनकी चर्चा नहीं की है और न ही भारतीय चिन्तन ने इन पर कोई गहरा विचार किया है, परन्तु कांट का कोटि-चिन्तन हमारा ध्यान विचार के उस स्वरूप की ओर आकर्षित करता है जिनकी ओर आज एक अन्य दिशा से भाषा-चिन्तन ने हमारा ध्यान खींचा है। चौम्स्की की प्रसिद्ध **कार्टेसियन लिंग्विस्टिक्स** हमारा ध्यान भाषा के उन मूल जन्मजात आकारों की ओर दिलाती है जो शायद हमारे

मस्तिष्क और वाक्तन्त्र की शारीरिक संरचना में सन्निहित हैं, लेकिन समस्या भाषा और विचार के सम्बन्धों की है जिस पर कुछ कम ही ध्यान दिया गया है। अधिकतर दार्शनिक चिन्तन उन भाषाओं को लेकर ही किया गया है जिन्हें इंडोयूरोपियन कहा जाता है और जिसकी विशिष्ट उदाहरण संस्कृत और ग्रीक मानी जाती हैं। पर अगर हम चीन की भाषा को भाषा का उदाहरण मानें तो यह हमारे आज के भाषा-चिन्तन की सहज सीमाओं को उजागर करेगा। और आश्चर्य की बात तो यह है कि यह भाषा-चिन्तन अपने को वैज्ञानिक कहता है। चीन की भाषा के बारे में ऐसा कहा जाता है कि उसका स्वरूप ही इतना भिन्न है कि उसके व्याकरण की बात करना बेमानी है। पर अगर ऐसा है तो फिर विचार को भाषा की कोटियों से बाँधना कहाँ तक ठीक होगा? लेकिन विचार की परम्पराएँ भी तो संस्कृतियों में अलग-अलग दिखाई देती हैं और कहीं-कहीं तो इतनी अलग कि उनमें साम्य ढूँढना मुश्किल है। दूसरी ओर, आज का वैज्ञानिक चिन्तन, विशेषकर भौतिकी में, इस प्रकार की बात करता है जिसको 'समझना' मुश्किल ही नहीं असम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि 'समझने' की कोटियाँ उस साधारण अनुभव पर आश्रित हैं, जो प्रत्येक आदमी को उस वस्तु जगत् के सन्दर्भ में प्राप्त होता है, जो उसके चारों तरफ फैला है और जिसका ज्ञान उसे अपनी इन्द्रियों से मिलता है। जैसे-जैसे मनुष्य का अनुभव इस स्थूल जगत् से परे जाता है उसे ऐसा लगता है कि इन कोटियों में आबद्ध ज्ञान को ही ज्ञान मानें तो उसको ज्ञान कहना मुश्किल है। यह बात एक तरह से जो अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है उसके बारे में शुरू से ही सबको ठीक महसूस हुई है। प्रत्यक्ष जगत् को समझना एक बात है और भाव जगत् को समझना दूसरी बात। दोनों की कोटियों में तारतम्य बैठाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, लेकिन आज तो स्थूल जगत् से शुरू होकर विज्ञान ने उसी जगत् के स्वरूप पर जो प्रकाश डालने की कोशिश की है उसमें ही ऐसा लगता है कि साधारण ज्ञान की वे सब सहज कोटियाँ, जिनको हम 'समझने' का मानदण्ड मान बैठे थे, वे केवल उसी स्थूल जगत् के ज्ञान से सम्बन्धित और उस तक ही सीमित हैं जो हमें अपनी पाँच इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है। फिर भी सोचना तो पड़ता ही है और दर्शन का काम यही है कि सोचे और समस्या उठाये और उसको सुलझाने की चेष्टा में फिर उलझाये। यही बुद्धि का अपना शुद्ध क्षेत्र है, उसका सहज व्यापार और कांट का दर्शन उसका ऐसा ज्वलन्त उदाहरण है जो दार्शनिक बुद्धि को सदैव अपनी ओर आकर्षित करता है और आगे सोचने के लिए मजबूर करता है।

❑